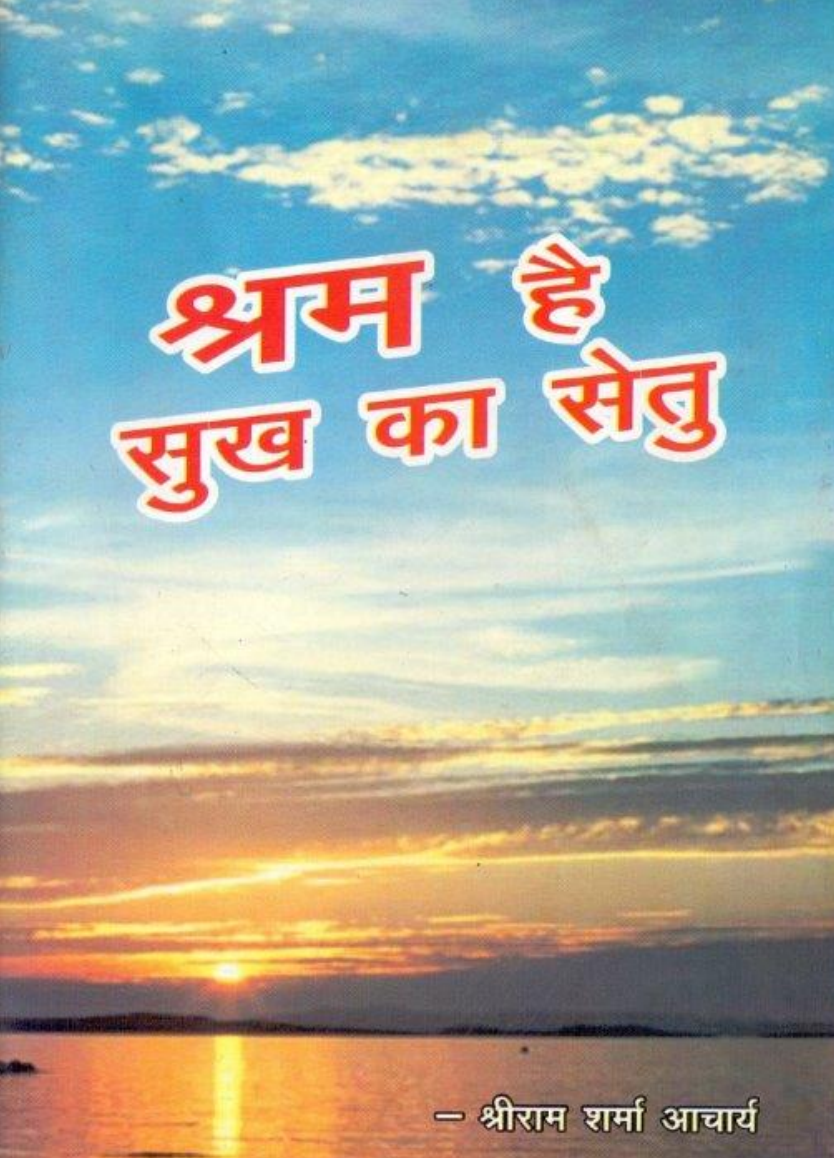
श्रम है
सुख का सेतु
— श्रीराम शर्मा आचार्य

श्रम है सुख का सेतु

श्रम स्वयं एक वरदान है

मानव-जीवन का सबसे बड़ा आधार श्रम ही है । हमारी सबसे प्रधान आवश्यकताओं-भोजन, वस्त्र, निवास स्थान की पूर्ति किसी न किसी के श्रम द्वारा ही होती है । अन्न के मिल जाने पर उसको खाने के लायक रोटी के रूप में परिवर्तित करने में भी श्रम करना पड़ता है और बिना श्रम के वह ठीक तौर से हजम होकर शरीर में रस-रक्त के रूप में बदल भी नहीं सकती । यह सब देखते हुए भी मनुष्य श्रम से बचने की चेष्टा करते रहते हैं । इसके लिए वे अपना कार्य-भार दूसरों पर लादने की कोशिश ही नहीं करते, वरन् तरह-तरह के आविष्कार करके, यंत्र बनाकर भी अपने हाथ-पैरों का कार्य उनसे पूरा कराने का प्रयत्न करते हैं । परिणाम यह होता है कि चाहे मनुष्य की दिमागी शक्तियाँ बढ़ रही हों, पर शारीरिक शक्तियाँ क्षीण होती जाती हैं और उसका जीवन कृत्रिम तथा परावलम्बी होता चला जाता है । चाहे नकली बातों को महत्व देने वाले और विचारशून्य इन बातों में भी गौरव और शान समझते हों पर जीवन-संघर्ष में इसके कारण विपत्तियाँ ही सहन करनी पड़ती हैं । इस सम्बन्ध में एक लेखक ने बहुत ठीक कहा है-

"पता नहीं कहाँ से यह गलत ख्याल लोगों में आ गया है कि परिश्रम से बचने में कोई सुख नहीं है । परिश्रम करने से कुछ थकावट आती है, पर श्रम न करने से तो शक्ति का स्रोत ही सूख जाता है । मेरी समझ से तो बेकार रहने से अधिक 'श्रमसाध्य' और कोई काम नहीं है । कुछ काम न करना मानो जीते जी मर जाना है ।"

"परिश्रम जीवन का आधार है । यह वह चीज है जो हर मानव को विरासत में मिली है । शुरू से वह शरीर से काम लेना चाहता है । इसी काम

लेने के कारण उसका शरीर बढ़ता और पुष्ट होता है । शारीरिक श्रम जीवन की प्रथम पूँजी है । इसलिए अपने शरीर से काम लेना हमारा पहला कर्तव्य है । हाथ-पाँव की दृढ़ता हर पग पर आवश्यक है । स्वाभाविक है कि जिन अंगों से हम काम न लेंगे वे कुछ दिनों में मुरझा जायेंगे । अभ्यास और श्रम से ही वे पुष्ट रह सकते हैं और अपना काम तत्परतापूर्वक करने योग्य बनते हैं ।"

कुछ लोग यह आशंका प्रकट किया करते हैं कि कोमल प्रकृति के बुद्धिजीवी लोगों अथवा बड़ी आयु के सज्जनों को शारीरिक श्रम से हानि पहुँचेगी । पर अनुभव ने बतलाया है कि बात ठीक इससे उल्टी होती है । जो लोग शारीरिक श्रम के इस नियम का पालन नहीं करते उनको अपना समय मनोरंजन के ऐसे साधनों में लगाना पड़ता है जो आगे चलकर चरित्र तथा स्वास्थ्य के लिए हानिकारक ही सिद्ध होते हैं । जैसे सिनेमा, नाटक, ताश, गाना-बजाना, उपन्यास, कहानी, गपशप आदि । जो आदमी इस तरह की बातों में समय व्यतीत किया करते हैं वे जीवन की वास्तविकता से हट जाते हैं और उनमें तरह तरह के शारीरिक और मानसिक दोष पैदा होने लगते हैं । इस परिस्थिति के दोषों का वर्णन करते हुए किसी ने ठीक ही कहा है कि "ये सब बिना कोई उपयोगी श्रम किये मानसिक जीवन को कायम रखने के साधन मात्र हैं । इसी प्रकार नये-नये ढंग के वस्त्र, फैशन, दवायें, सोड़ा-लेमन, टॉनिक, विद्युत चिकित्सा आदि ऐसी कृत्रिम और ठगी की युक्तियाँ हैं, जिससे मनुष्य श्रम का अभ्यास न रहने पर अपने शारीरिक जीवन को वहन करने में समर्थ हो सकता है । पर यह तो कुछ ऐसी ही बात है कि किसी पूरी तरह से बन्द कमरे में पौधों को वायु प्रदान करने के लिए रासायनिक प्रक्रिया द्वारा पानी की गैसें बनाई जायें, जबकि वास्तव में यह काम खिड़की खोल देने से ही पूरा हो सकता है । दूसरे शब्दों में इसका आशय यह है कि भोजन करने से जो शक्ति पैदा होती है उसे शारीरिक श्रम द्वारा उपयोग में लाया जाय ।"

इस तरह का शारीरिक श्रम हमको केवल अनेक हानिकारक प्रवृत्तियों से नहीं बचाता, वरन् अनेक प्रकार के प्रत्यक्ष लाभ भी देता है । अगर हम अपने बाग में प्रतिदिन घण्टा-दो घण्टा परिश्रम करें तो उससे जीवनदायक फल-फूलों

की प्राप्ति होगी । अगर हम खेती के कामों में प्रतिदिन कुछ समय लगाते रहेंगे तो हम अन्न के लिए आत्म-निर्भर हो सकेंगे । अगर दर्जी, बढ़ई, लुहार, मोची आदि के किसी काम को शौक या 'हावी' की तरह ही करते रहें तो उससे अनेक उपयोगी वस्तुओं का उत्पादन होगा ।

हम फिर इस बात को दुहराना चाहते हैं कि उच्च-स्तर के बुद्धिजीवी या कला कुशल लोगों के लिए यह आवश्यक नहीं कि वे सामान्य किसान, मजदूरों की तरह पूरे आठ घण्टे यह काम करते रहें । हमारा आशय यही है कि वर्तमान समय में ये उच्च श्रेणी के व्यक्ति अपना नियमित काम करने के बाद जो कई घण्टे का समय मनोरंजन अथवा तफरीह के नाम पर अनुपयोगी और प्रायः हानिकारक कार्यक्रमों में लगाया करते हैं, उसके बजाय वे उसका एक अंश बागवानी, खेती, दस्तकारी जैसे किसी काम में लगाया करें जिससे कुछ भिन्न प्रकार के वातावरण में पहुँच कर उनको पूर्ण मानसिक विश्राम भी मिल जाय और समाज के हितकारी उत्पादन में किसी प्रकार का सहयोग भी मिले ।

यह सिद्धांत सामान्य अथवा मध्यम श्रेणी के बुद्धिजीवियों पर ही लागू नहीं होता वरन् बड़े विद्वानों, कलाकारों और शासकों तक के लिए भी यह असंदिग्ध रूप से उपयोगी और कल्याणकारी है । सन्त विनोबा भावे ने जवाहरलाल नेहरू जैसे राजनीतिज्ञ को, जो सदैव राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय विशाल समस्याओं के भार से दबे रहते थे, यही सलाह दी थी कि वे प्रतिदिन सब काम छोड़कर एक-दो घण्टा खेती का काम किया करें । जिस आदमी का जीवन इतना अधिक व्यस्त हो कि उसे प्रायः पन्द्रह और इससे भी अधिक घण्टे प्रतिदिन शासन कार्य में लगाने पड़ें, उसके लिए खेती का कार्य करने की सम्मति देना कुछ आश्चर्यजनक जान पड़ेगा । जो लोग श्रम की महिमा से अनजान हैं वे तो इसे एक काल्पनिक आदर्श ही बतलायेंगे । पर वास्तव में इसमें कोई अनहोनी बात नहीं है । इस प्रकार थोड़ी देर के लिए वातावरण के पूर्णतः बदल जाने से इतना अधिक मानसिक विश्राम मिल जाता है और एक ऐसी ताजगी तथा ऊर्जा प्राप्त हो जाती है कि जिससे पन्द्रह घण्टे का काम बारह घण्टे में पूरा होना सम्भव हो जाता है ।

श्रम से बचने की हानिकारक मनोवृत्ति

उपयोगी श्रम से बचने की यह मनोवृत्ति बहुत समय से चली आई है और दिन पर दिन बढ़ती जाती है । मध्यकाल में कुछ ब्राह्मण (पुजारी, पुरोहित) आदि क्षत्रिय (राजा, सामन्त, सैनिक) और थोड़े से सरकारी कर्मचारी शारीरिक श्रम द्वारा प्रत्यक्ष उत्पादन कार्य से बचकर उसका भार प्रजा के शेष वर्गों पर डाल देते थे । वे अपने इस स्वार्थपूर्ण आचरण का कारण ईश्वरीय आदेश या भाग्यवाद के सिद्धांत को बतलाते थे कि पुराकालीन पुण्य कर्मों के कारण ही इन विशेष अधिकार प्राप्त वर्ग वालों को भगवान ने यह सुविधाजनक स्थिति प्रदान की है ।

इसके पश्चात् क्षत्रियों की प्रधानता के युग में भाग्यवाद के साथ उपयोगितावाद का कारण भी जोड़ दिया गया । वे कहते थे कि समाज की रक्षा और व्यवस्था को कायम रखने के लिए हमको इस बात का विशेष अधिकार प्राप्त है कि स्वयं श्रम न करके अन्य लोगों से काम करायें । इस प्रकार अब से सौ दो सौ वर्ष पहले तक प्रायः सभी देशों के ये विशिष्ट समझे जाने वाले व्यक्ति धर्म या समाज-रक्षा की दलील देकर अपनी स्थिति को आवश्यक और उपयोगी सिद्ध करने की चेष्टा करते थे । हमारे यहाँ के विद्वान् कहलाने वाले तो इसके लिए तुरन्त ही धर्मशास्त्रों का प्रमाण भी पेश कर देते थे-

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः ।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्याँ शूद्रो अजायत ॥

इस वेद-वाक्य के गूढ़ आशय पर ध्यान न देकर वे सामान्य अशिक्षित जनों को यही समझाते थे कि हमको भगवान ने अपने उत्तम अंगों, मस्तक तथा भुजाओं से उत्पन्न किया है, अतएव खेती, किसानी, मजदूरी जैसे कार्य हमारे लिए अनुपयुक्त हैं । यह कर्तव्य उन्हीं लोगों को पालन करने चाहिए जो निम्न अंगों से उत्पन्न हुये हैं ।

योरोप के लोग भी इसी से मिलते-जुलते तर्क उपस्थित करके श्रम से बचने के सिद्धांत का प्रतिपादन किया करते थे । वे बाइबिल का हवाला देकर

कहते थे कि "जिस प्रकार चन्द्रमा और तारे सूर्य से भिन्न हैं और स्वयं तारों में भी परस्पर भिन्नता है उसी प्रकार ईश्वर के आदेशानुसार मनुष्य-मनुष्य में भी भिन्नता है । कुछ लोगों को ईश्वर ने सब पर, कुछ को बहुतों पर और कुछ थोड़ों पर शासन करने के लिए नियुक्त किया है और शेष आदेश पालन के लिए बनाये गये हैं ।" अन्य लोग जो ऐसे 'धार्मिक' आदेशों को अधिक महत्व नहीं देते थे, दार्शनिकता का आधार लेकर कहते थे-"इस समय लोगों ने जिस जीवनक्रम को स्थापित कर लिया है और जिस पर वे चल रहे हैं, उसका निर्माण मानव ने नहीं किया है और न वह उसको स्थिर रख सकता है । वह तो आत्मा या सम्पूर्ण मानव-जीवन से प्रस्फुटित होते-होते स्वयं विकसित हो गया है और उसका पालन करना ही हमारा कर्तव्य है ।"

इन दोनों प्रकार के लोगों को फिर भी जन-समुदाय के प्रति अपने कथित कर्तव्यों का कुछ ध्यान रखना पड़ता था और उसमें त्रुटि या असावधानी होने पर लज्जित भी होते थे । पर वर्तमान समय में लोगों ने अपनी निष्क्रियता पर विज्ञान और कला की साधना का जो आवरण डाल रखा है, उसमें इस तरह के कर्तव्य-पालन की भी कोई शर्त नहीं रखी है । ये लोग अपने कार्य को स्वयं ही जन-साधारण के लिए अनिवार्य रूप से आवश्यक मान लेते हैं और इसके लिए उन पर बहुत बड़ा अहसान जताते रहते हैं । एक बड़े विद्वान् के शब्दों में उनकी स्थिति कुछ इस प्रकार है-

"ये वैज्ञानिक और कलाकार बिना किसी प्रकार का प्रमाण दिये ही पुराने युग के पुरोहितों की तरह कहा करते हैं कि समाज के कल्याण के लिए उनका काम सबसे अधिक महत्वपूर्ण और आवश्यक है और यदि वे काम न करें तो समस्त मानव समाज विनष्ट हो जाय । यद्यपि उनके सिवा कोई दूसरा आदमी उनके काम की महत्ता को समझता या स्वीकार नहीं करता, तथापि वे अपने कार्य का गुण गाते ही रहते हैं । इस बात की चिन्ता किये बिना ही उनके काम से जनता को लाभ होगा या नहीं, वे अपने प्रिय व्यसनों में लगे रहते हैं और उन्हें सदा यह विश्वास रहता है कि वे समाज के लिए सबसे अधिक आवश्यक और महत्वपूर्ण कार्य कर रहे हैं । इस प्रकार जहाँ एक ईमानदार

सरकारी कर्मचारी यह मानता है कि उसके काम का मुख्य उद्देश्य व्यक्तिगत लाभ है और फिर भी वह जनता के लिए यथासाध्य उपयोगी बनाने का प्रयत्न करता है और इसी तरह जहाँ एक व्यवसायी अपने कार्य की स्वार्थ परायणता को स्वीकार करता हुआ उसे सार्वजनिक उपयोगिता का रूप देने की चेष्टा करता है, वहाँ वैज्ञानिक अथवा कलाकार ऐसा दिखावा करना भी आवश्यक नहीं समझते । उनको अपने कार्य की उपयोगिता ही नहीं उसकी 'पवित्रता' पर इतना पक्का विश्वास होता है कि वे उपयोगितावाद के सिद्धांत को भी अस्वीकार कर देते हैं ।"

इस प्रकार ये तीसरी नई श्रेणी के लोग सब प्रकार के उपयोगी श्रम से अलग रहकर ऐसे कामों में लगे रहते हैं जिनको किसान और मजदूर समझ भी नहीं पाते और जिनको वे प्राय: निरर्थक और हानिकारक मानते हैं । इन लोगों को जनता के लिए उपयोगी बनने की जरा भी चिन्ता नहीं रहती, वे सब कुछ 'स्वान्त: सुखाय' करते हैं और फिर भी यह पूर्ण विश्वास रखते हैं कि उनका कार्य जन-जीवन के लिए नितान्त आवश्यक है ।

उपर्युक्त श्रेणी के अधिक शिक्षित तथा विज्ञान और कला की साधना का दावा करने वालों के कथन का मूल तात्पर्य यह होता है कि वे शिक्षा, सभ्यता, ज्ञान सम्बन्धी कार्यों में इतने संलग्न रहते हैं कि उनको शारीरिक श्रम वाले कामों के लिए कुछ भी समय नहीं मिलता और यदि वे उनके लिए चेष्टा करें तो उनके उच्च कामों में क्षति पहुँचेगी ।

इस विषय पर विचार करने से पूर्व यह स्पष्ट कह देना उचित होगा कि हम विज्ञान, कला, शिक्षा आदि के विरोधी नहीं है और न मानव प्रगति के लिए इनके महत्व को कम आँकते हैं । हमारे देश के किसी प्राचीन लेखक ने जैसा कहा है 'विद्या कला विहीनो नर: पशुभि: समान:' के सिद्धांत को हम पूर्णतया नहीं तो अधिकांश में अवश्य मानते हैं । मनुष्य केवल पेट भरने के लिए आवश्यक सामग्री प्राप्त करने में ही सारा जीवन व्यतीत कर दे यह हमको अभिप्रेत नहीं । सभ्यता, संस्कृति, मानसिक सद्गुणों का आविर्भाव प्रत्येक मनुष्य में होना भी अनिवार्य मानते हैं । पर इन सब बातों के होते हुए भी

हमको इसमें कोई ऐसी बात नहीं जान पड़ती जो शारीरिक श्रम करने में बाधक हो । यदि ये विज्ञान और कला प्रेमी थोड़े भी शारीरिक श्रम को कला की साधना के लिए हानिकारक मानते हैं, अथवा उनका यह दावा है कि वे अपना पूरा समय बौद्धिक कार्य में ही लगाते रहते हैं तो वे या तो भ्रम में हैं या दूसरों को बहकाते हैं । रूस के महान् लेखक टाल्सटाय संसार के विद्वानों में अग्रगण्य माने जाते हैं और उन्होंने बहुत अधिक संख्या में ऐसी पुस्तकें लिखी हैं जो उनकी मृत्यु के पचास-साठ वर्ष बाद अब भी संसार की विभिन्न भाषाओं में छापी और पढ़ी जाती हैं । बहुत वर्षों तक इस श्रम की समस्या पर विचार करते हुए वे इस निश्चय पर पहुँचे थे कि कला और साहित्य की साधना में शारीरिक श्रम से कोई हानि नहीं होती, वरन् इससे उसका स्तर उच्च ही होता है । इस सम्बन्ध में वे स्वयं अपना उदाहरण देते हुए लिखते हैं-

"मेरे सामने यह भी प्रश्न था कि यदि मैं शारीरिक श्रम करने लगूँ तो क्या वह मेरा सारा समय नहीं ले लेगा और तब क्या मेरे उस मानसिक, साहित्यक कार्य में रुकावट नहीं पड़ेगी जो मुझे पसंद है और जिसे मैं कुछ उपयोगी मानता हूँ ? पर जब मैंने सचमुच शारीरिक श्रम करना आरंभ कर दिया तो इस समस्या का पूरी तरह समाधान हो गया । जितना अधिक मैंने शारीरिक श्रम किया उतनी ही अधिक मेरी मानसिक श्रम की शक्ति भी बढ़ गई और मुझे व्यर्थ की बातों से मुक्ति मिल गई ।"

"परिणाम यह निकला कि शारीरिक श्रम में आठ घण्टे लगाने के बाद भी, मेरे पास आठ घण्टे बच जाते हैं, जिनमें से मानसिक कार्य के लिए मुझे केवल पाँच घण्टों की आवश्यकता होती है । जब मैंने इसकी तुलना अपने पिछले जीवन से की तो मुझे मालूम हुआ कि मैंने पिछले चालीस वर्ष तक लिखने के अतिरिक्त कोई कार्य नहीं किया था और लगभग ५ हजार पृष्ठ लिखे थे । यदि इन चालीस वर्षों में मैं एक साधारण किसान का कार्य करता रहा होता और साल में छः महीने प्रतिदिन दो पृष्ठ ही लिखता रहता तो १४ वर्ष में ही ये ५ हजार पृष्ठ लिखे जा सकते थे । पर केवल लेखन-कार्य करते हुए मैंने

किसी-किसी दिन १६ पृष्ठ तक लिखे थे, तो भी मेरे कार्य का परिणाम नगण्य ही रहा ।"

वास्तविक बात यह है कि लोगों ने पहले से ही अपने मन में यह ख्याल बैठा लिया है कि शारीरिक श्रम, बौद्धिक कार्य के विपरीत है और उसके करने से इस उच्च कार्य में रुकावट पड़ेगी अथवा उन्होंने इस विषय में कभी अच्छी तरह विचार ही नहीं किया होता है । वे शारीरिक श्रम को हीनता की निगाह से देखते हैं और इसलिए बिना सोचे समझे ही उसे अपने कार्य में बाधक बतला देते हैं ।

बहुत से लोग इस संबंध में एक नये प्रकार का तर्क उपस्थित करते हैं । वे कहते हैं कि हमको जीवन निर्वाह के लिए दूसरों के जिस अनेक प्रकार के शारीरिक श्रम का उपयोग करना पड़ता है, उसका परिणाम सब मिलाकर बहुत अधिक होता है । यदि हम घण्टा दो घण्टा रोज शारीरिक श्रम करने भी लगें तो वह तो घड़े में एक बूँद के समान होगा, उससे क्या लाभ होगा ?

जो लोग शारीरिक श्रम से बचने को ऐसे बहाने पेश करते हैं, वे दूसरों का तो थोड़ा ही अहित करते हैं पर स्वयं बहुत बड़े लाभ से वंचित रह जाते हैं । वे इस बात को नहीं समझते कि बौद्धिक कार्य के साथ शारीरिक श्रम का समन्वय करने से उनका जीवन अनेक प्रकार से उन्नत तथा सुखी बन सकेगा । जिस शारीरिक श्रम को वे एक भार अथवा अप्रतिष्ठा का हेतु समझते हैं, वह उनका एक प्रकार से कायाकल्प कर देगा और उनके अनेक दोषों को दूर कर उन्नति का मार्ग खोल देगा । बेकार रहने के कारण उनके अन्दर जो खर्चीली आदतें और निरर्थक आवश्यकताऐं पैदा हो गई होंगी, वे ऐसे शारीरिक श्रम से तुरन्त दूर हो जायेंगी । पोशाक, बिस्तर, सजावट सम्बन्धी अनुचित और दिखावटी भावनायें भी इससे बदल जाती हैं और मनुष्य पहले की अपेक्षा बहुत कम व्यय में सुखी और शांत जीवन बिताने लग जाता है । वैसे जिन आदतों का छोड़ना अत्यन्त कठिन जान पड़ता है वे शारीरिक श्रम का अभ्यस्त हो जाने पर ऐसे परोक्ष रूप से बदल जाती हैं कि हमको स्वयं अपने नये जीवन को देखकर आश्चर्य होने लगता है ।

ईश्वरीय नियमों का पालन कीजिए

ईश्वर ने हमको यह जो अद्‌भुत मानव देह दी है और इसमें ऐसे अद्‌भुत अंग-प्रत्यंग बनाये हैं जिनसे हम अत्यन्त सूक्ष्म तथा पेचीदा कार्यों को भी करने में समर्थ हो सकते हैं तो इनके संबंध में हमारा यह कर्तव्य है कि उन सभी अंगों से ठीक-ठीक काम लें और उन्हें कार्यक्षम स्थिति में रखें । प्रकृति ने हमारी आँखों की रचना देखने के लिए, कानों को सुनने के लिए, नाक की सूँघने के लिए, जिह्वा की बोलने और रसास्वादन के लिए की है । यदि हम इन कार्यों में निरन्तर इन अंगों का उपयोग न करते रहेंगे तो वे अवश्य ही निर्बल पड़ जायेंगे । इसी प्रकार मनुष्य के हाथ-पाँव श्रम करने को दिये गये हैं । अगर इनको इस काम में न लगाया जायेगा तो ये भी बेकार हो जायेंगे पर आज लाखों-करोड़ों व्यक्ति ऐसे हैं जो हाथों से किसी प्रकार का उपयोगी श्रम नहीं करते और पैरों का काम प्रायः सवारियों से ही निकाला करते हैं । इस प्रकार वे इन अंगों को ऐसा निकम्मा बना डालते हैं कि किसी आकस्मिक आवश्यकता के समय उनको या तो परमुखापेक्षी बनना पड़ता है या कष्टों में पड़कर विवशतापूर्वक कुपरिणामों को सहन करना होता है ।

यदि निष्पक्ष भाव से विचार किया जाय तो हम इस बात से कदापि इन्कार नहीं कर सकते कि जो लोग शारीरिक श्रम से विमुख रहकर अपना समस्त समय कुर्सी और गद्दे-तकियों पर गुजारा करते हैं और केवल विचार करने, आदेश देने या विज्ञान अथवा कला संबंधी बहुत हल्का कार्य करने में ही लगे रहते हैं, वे एक प्रकार से ईश्वर और प्रकृति के नियमों का उल्लंघन करते हैं । इसका आशय यह नहीं कि हम उनके कार्य के महत्व को स्वीकार नहीं करते हैं । इसमें संदेह नहीं कि अनेक वैज्ञानिक, कलाकारों, साहित्यिकों के परिश्रम से ही आज हम एक उत्कृष्ट मानव-संस्कृति के दर्शन कर रहे हैं और अपने जीवन को उच्च बनाने में समर्थ हो रहे हैं ।

यदि व्यास जी गीता की रचना न करते और तुलसीदास जी ने रामायण न लिखी होती तो आज हमारा जीवन न जाने कितना सूना होता । गीता से सच्चे

आत्म-दर्शन का ज्ञान पाकर हम जिस प्रकार कर्तव्य पालन में समर्थ होते हैं और रामायण को पढ़कर जिस तरह अपनी भावनाओं को उच्च बनाते हैं उसका मूल्यांकन कर सकना साधारण बात नहीं है । इसी प्रकार जिन गैलीलियो, न्यूटन, फैराडे, ऐडीसन, आइन्सटीन आदि वैज्ञानिकों ने हमको खगोल, आकर्षण, चुम्बक, विद्युत, शब्द-तरंग, अणुशक्ति का रहस्य बतलाया है और उनकी सहायता से सैकड़ों जीवनोपयोगी उपकरणों का निर्माण किया गया है, वे भी निश्चित रूप से हमारी श्रद्धा के पात्र हैं । इसी प्रकार भूतकाल और वर्तमान समय के विज्ञानविद् और कलाकार जिन्होंने निःस्वार्थ भाव से मानव-सभ्यता को ऊँचा उठाने में अपनी अनुपम बौद्धिक शक्तियों को लगाया है, सदैव श्रद्धापूर्वक स्मरण किये जाते रहेंगे ।

पर यह सब होने पर भी हमको यह कहना पड़ेगा कि मानव जीवन का प्रथम कार्य शारीरिक श्रम है और बौद्धिक कार्यों का स्थान दूसरा ही है । क्योंकि यह एक प्रत्यक्ष तथ्य है कि चाहे कोई बड़ा अध्यात्मवेत्ता हो, चाहे महाकवि हो, चाहे विज्ञान में पारंगत और कला का आचार्य हो, सबके लिए भोजन और वस्त्र की पहले आवश्यकता होती है । इन पदार्थों के बिना उनका अस्तित्व ही नहीं रह सकता और इन्हीं से शक्ति प्राप्त करते हुए वे अपने विशेष कार्यों को पूरा करने में समर्थ होते हैं । इसलिए शारीरिक श्रम को किसी दृष्टि से हीन समझना या उसके करने में अपनी श्रेष्ठता की हानि अनुभव करना एक बड़ी गलती है । ऐसा विचार रखने वालों के लिए हमें यही कहना पड़ेगा कि अभी उन्होंने जीवन दर्शन को कुछ भी नहीं समझा है और उनके विज्ञान और कला विषयक विचार भी थोथे हैं । बौद्धिक कार्य करना बहुत अच्छा है और प्रत्येक मनुष्य को अपने भीतर परिस्थितियों के अनुसार बौद्धिक क्षमता भी अवश्य उत्पन्न करनी चाहिए, पर उसके लिए शारीरिक श्रम की सर्वथा उपेक्षा करना या उसे अनावश्यक बतलाना भी किसी प्रकार न्यायसंगत या बुद्धिमत्ता का लक्षण नहीं है ।

शारीरिक श्रम द्वारा शरीर के अंग-प्रत्यंगों का ठीक विकास किये बिना हमारा जीवन एकांगी-अपूर्ण रह जायगा और मानसिक तथा बौद्धिक क्षेत्र में भी हम यथेष्ट प्रगति न कर सकेंगे । विभिन्न मानवीय शक्तियों को पृथक-पृथक

समझना सही दृष्टिकोण नहीं है । जिस प्रकार शरीर के विभिन्न अंग अपना काम अलग-अलग करते दिखाई देने पर भी समस्त शरीर के पोषण में ही सहयोग देते हैं, उसी प्रकार जब हम अपनी शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, आत्मिक सभी शक्तियों से उचित काम लेंगे और उनका ठीक ढंग से समन्वय करेंगे तभी जीवनोद्देश्य में सफल हो सकेंगे ।

धन का अनुचित महत्व

बहुत से लोग ऐसा भी सोचते हैं कि जब हम बौद्धिक कार्य में अधिक धन कमा सकते हैं तब अपना समय खेती, बागवानी या ऐसे ही किसी अन्य काम में क्यों खर्च करें, जिनमें आय बहुत कम होती है । ये लोग निश्चय ही बड़े अदूरदर्शी और संसार की वास्तविकता से दूर होते हैं । वे केवल इतनी ही बुद्धि रखते हैं कि वर्तमान समय में संसार के सब काम रुपये से पूरे हो जाते हैं, सब प्रकार के सुख-साधन धन के ही अधीन हैं, इसलिए जिस तरह अधिक रुपया मिले वही काम करना चाहिए । उनकी निगाह में आपकी स्वाभाविक, अस्वाभाविक, ईश्वर प्रदत्त होने की बातें सनकी लोगों की चलाई हुई हैं । पर ऐसे लोगों को यह नहीं मालूम कि रुपया और धन एक सामाजिक उपकरण मात्र है । सदा न रुपये का महत्व रहा है और न अनन्तकाल तक रहेगा । शारीरिक स्वास्थ्य और शक्ति का स्थान सदैव धन के ऊपर है । एक विद्वान की इस उक्ति में कुछ भी संदेह नहीं कि "अगर रुपया चला गया तो कुछ नहीं गया, अगर स्वास्थ्य चला गया तो कुछ गया और यदि चरित्र चला गया तो सब कुछ समाप्त हो गया ।"

धन की असारता के उदारहण पग-पग पर मिलते हैं । हम संसार के ऐसे करोड़पतियों के वर्णन पढ़ते हैं, जिनके पास अगणित सम्पदा होने पर भी जो स्वास्थ्य के खराब हो जाने के कारण एक रोटी खाने के लिए भी तरसा करते थे । हमको योरोप के ऐसे करोड़पति का किस्सा मालूम है जिसने दुश्चरित्रता के कारण होटल में पिस्तौल मारकर आत्महत्या कर ली थी, हमने प्रत्यक्षदर्शियों से सन् १९४२ में बर्मा पर जापानी हमला होने के समय की घटनायें भी सुनी हैं,

जब वहाँ से हजारों भारतवासी अपने प्राण बचाकर भागे थे । इनमें से कितनों के ही पास काफी धन-सम्पत्ति थी । पर उस समय युद्ध के कारण चारों तरफ अव्यवस्था फैल जाने के कारण उनको स्थल मार्ग से भागना पड़ा, जो ८० मील तक पूर्णतया सुनसान, पथरीला और जन-शून्य था । उसमें न कुछ खाने को था न कहीं पानी ही मिलता था । वहाँ होकर आने वाले भुक्तभोगी बतलाते थे कि उन्होंने रास्ते में ऐसे व्यक्तियों को पड़े देखा जिनकी जेबों में दस रुपये के नोट रखे थे, पर वे पानी के बिना तड़प कर मर गये । उस समय वे एक गिलास पानी के लिए एक हजार रुपया तक देने को तैयार थे, पर उनको पानी न मिल सका और उनका रुपया पड़ा ही रह गया ।

धन उपयोगी अवश्य है और उसके द्वारा अपनी और दूसरों की भलाई के बहुत से काम किये जा सकते हैं पर उसको सर्वोपरि महत्व देना मूर्खता का प्रमाण हैं । स्वास्थ्य की परवाह न करके धन के पीछे पड़े रहना कभी सुख-सौभाग्य का कारण नहीं हो सकता । जीवन की सफलता का आधार उपयोगी कार्यक्रम, स्वावलम्बी जिन्दगी व्यतीत करना है, केवल धन के पीछे पड़े रहकर दीन-दुखियों को भूल जाना किसी प्रकार उचित या समझदारी की बात नहीं कही जा सकती ।

श्रेष्ठता का झूठा भ्रम

बहुत से लोग बौद्धिक और शारीरिक श्रम का सम्बन्ध प्रतिष्ठा और श्रेष्ठता से जोड़ते हैं । वे अपने मन में ऐसा समझते हैं कि शारीरिक श्रम करना, खेती, दस्तकारी, कारीगरी आदि कार्य अपेक्षाकृत छोटे लोगों के लायक होते हैं और जो दफ्तर में कुर्सी पर बैठकर काम करते हैं और दस-बीस आदमियों पर हुकुम चलाते हैं, वे बड़े आदमी हैं, इस श्रेष्ठता के भूत ने अनेक लोगों के दिमाग में ऐसा घर कर लिया है कि वे सब तरह की कठिनाई सह लेते हैं, पर शारीरिक कार्य करने को तैयार नहीं होते । हमारे देश के शिक्षित नवयुवकों में ऐसे नमूने लाखों की संख्या में मिल सकते हैं । ये लोग सौ-डेढ़ सौ रुपये की सरकारी या दफ्तरों की नौकरी के लिए बरसों तक सड़कों की खाक छानते फिरते हैं,

जगह-जगह प्रार्थना-पत्र देने और 'इन्टरव्यू' में सम्मिलित होने के लिए घर का सैकड़ों रुपया खर्च कर देते हैं, पर उनसे यह नहीं होता कि घर की खेती या व्यवसाय में मेहनत करके अपना निर्वाह कर सकें या कोई मजदूरी या दस्तकारी का काम करके तीन-चार रुपया रोज कमा सकें। उनको यही भ्रांति खाये जाती है कि शारीरिक श्रम करने से हमें लोग छोटा समझने लगेंगे और समाज में हमारी प्रतिष्ठा घट जायगी।

ऐसे लोगों में कुछ तो इस विषय में यहाँ तक आगे बढ़ जाते हैं कि उनकी गिनती सनकियों में होने लगती है और लोग उनकी बातों पर हँसते हैं। महान् महानतावादी लेखक टाल्सटाय ने, जिसे महात्मा गाँधी अपने गुरु की तरह समझते थे, एक ऐसे मामूली किसान का सच्चा दृष्टान्त लिखा है जो संयोगवश कुछ समय के लिए सरकारी कार्य करने को पा गया था और उसके बाद उसका दिमाग ऐसे सातवें आसमान पर पहुँच गया था कि उसे खेती का काम या कोई साधारण शारीरिक श्रम का काम अपनी शान के विरुद्ध जान पड़ता था। इस प्रकार बेकार रहने से यद्यपि उसके भूखों मरने की नौबत आ गई, पर उसकी यह सनक दूर न हो सकी कि वह एक सरकारी अधिकारी है और शारीरिक श्रम करके रोजी कमाना उसकी प्रतिष्ठा के प्रतिकूल है। इस दृष्टांत का एक मनोरंजक अंश भी है जिसे लेखक के मूल शब्दों में यहाँ दिया जाता है-

"हमारे जिले में एक फटे हाल किसान है, जो इधर-उधर घूमता रहता है। युद्ध के दिनों में एक सैनिक अधिकारी ने उसे अन्न को खरीदने के काम के लिए भरती कर लिया। अधिकारी के निकट सम्पर्क में रहने के कारण ऐसा मालूम होता है कि उस किसान के दिमाग में यह फितूर बैठ गया कि उच्च वर्ग के लोगों की तरह उसे भी काम करने की आवश्यकता नहीं है, उसे तो अपने जीवन निर्वाह के लिए सम्राट से वेतन मिलता ही रहेगा। अपने सरकारी काम के खत्म हो जाने पर भी अभी तक वह अपने को सब प्रकार की सामग्री का ठेकेदार महामान्य राजकुमार 'ब्लोखिन' कहता है। वह कहता है कि उसने सैनिक सेवा की समस्त अवस्थायें पार कर ली हैं और चूँकि उसकी सैनिक

सेवायें पूर्ण हो चुकी हैं, इसलिए अब उसे सम्राट से नकदी, वस्त्र, वर्दी, घोड़े, गाड़ी, जायदाद, नौकर आदि सब वस्तुयें मिलती ही रहेंगी । उससे जब पूछा जाता है कि क्या तुम कुछ काम करोगे ? तो वह इस प्रश्न के उत्तर में सदा गर्व के साथ कहता है-'बहुत-बहुत धन्यवाद ! यह सब काम किसान कर लेंगे ।'

यदि कोई उससे यह कहे कि संभव है किसान भी काम न करना चाहें तो वह उत्तर देता है-''किसानों के लिए परिश्रम करने में कोई कठिनाई नहीं होती । अब किसानों की सुविधा के लिए मशीनें ईजाद कर दी गई हैं, जिससे उनके लिए मेहनत करना अधिक कष्टदायक नहीं ।'' जब उससे कोई पूछता है कि तुम किसलिए हो ? तो वह उत्तर देता है-समय काटने के लिए ।

यद्यपि इस व्यक्ति की गिनती सनकी या सिड़ी आदमियों में होने लगी थी, पर सच पूछा जाय तो हमारे यहाँ के समस्त अमीर, रईस, राजा नामधारी इसी श्रेणी में हैं । बाप-दादों की या किसी सम्बन्धी की सम्पत्ति पा जाने के कारण यद्यपि उनको कष्ट उठाना नहीं पड़ता और उनकी अच्छी-बुरी सभी इच्छायें पूरी हो जाती हैं पर उनका जीवन और उनके विचार इस अपने मुँह से आप ही राजकुमार ब्लोखिन बनने वाले व्यक्ति से ज्यादा भिन्न नहीं होते । वे अपने हाथ से कुछ भी काम करना अपनी शान के खिलाफ समझते हैं । सामने ही स्टूल पर पानी की सुराही और गिलास रखा रहता है तो भी प्यास लगने पर किसी नौकर को बुलाकर ही पानी माँगकर पियेंगे वे अपने कपड़े, जूते आदि भी स्वयं पहिन और उतार नहीं सकते । यह काम भी नौकर ही करता है । इस प्रकार से वे अपने को ऐसा अपाहिज-सा बना लेते हैं कि जिनको देखकर हँसी या तरस ही आता है ।

प्रगति का अमोघ साधन—श्रम

धन का महत्व इसलिए माना जाता है कि उसके माध्यम से आनन्दमयी परिस्थितियाँ प्राप्त करने में सुविधा होती है । धन का उत्पादन प्रत्यक्षः खेती, कारखानों और बाजारों में होता है पर मूलतः वह मनुष्य के समय और श्रम की कीमत है । भगवान् ने श्रम करने योग्य शरीर और समय का सदुपयोग करने

योग्य मस्तिष्क देकर धनी बनने और सुविधापूर्ण जीवन बिताने की सारी सम्भावनायें पहले से ही प्रस्तु कर दी हैं ।

ईश्वर प्रदत्त शक्तियों में जिस प्रकार मस्तिष्क व मन का महत्व है, उसी प्रकार शरीर में श्रम की महिमा है । श्रम शक्ति को नियोजित करके मनुष्य यदि चाहे तो असंभव को संभव बना सकता है । फरहाद के पर्वत खोद कर नहर निकाल लाने के एकाकी प्रयत्न की कथा प्रसिद्ध है । टिटहरी ने अपने अंडे वापिस पाने के लिए समुद्र को पाट देने की ठान ली तो अगस्त ऋषि के सहयोग से उसे उस असंभव कार्य में भी सफलता मिल गई । सूर्य का निरन्तर घूमने का श्रम इस संसार को जीवन प्रदान किये हुए है और धरती की भ्रमणशीलता ही इसे इस रूप में स्थिर रखे हुए है । ब्रह्माजी के एकाकी पुरुषार्थ से सृष्टि रची गई और अणुओं की गतिशीलता से ही निर्माण-विकास का उपयोगी क्रम अवाध रूप से चल रहा है ।

मानवीय श्रम के बलबूते पर हम अन्न, वस्त्र, शिक्षा, आजीविका, सुविधा एवं प्रमोद के साधन प्राप्त करते हैं । यदि लोगों में आलस्य की प्रवृत्ति बढ़ जाय और श्रम से जी चुराने की आदत अपना ली जाय तो जिन सुविधाओं को हम आज उपलब्ध कर रहे हैं वे भी समाप्त हो जाँय और जीवन धारण किये रहना भी असंभव प्रतीत होने लगे । श्रम के आधार पर ही शरीर और परिवार का निर्वाह होता है । प्रगति की किसी भी दशा में अग्रसर होने के लिए सबसे पहला साधन श्रम ही अपेक्षित होता है । जो जितना परिश्रमी होता है वह उतनी ही उन्नति कर जाता है और आलसी को अपनी पिछड़ी हुई हीन परिस्थितियाँ देख-देखकर पछताना पड़ता है । भले ही वह अपना दोष किसी दूसरे पर थोप कर मन हल्का कर लें, पर वस्तुस्थिति तो ज्यों की त्यों रहेगी । श्रम से जो जितना जी चुरा रहा होगा, सौभाग्य उससे उतना ही दूर हटता चला जायगा । प्रगति की सम्भावनायें उतनी ही कम होती चली जायेंगी ।

श्रम-शक्ति को सुव्यवस्थापूर्वक जीवनोत्कर्ष के लिए सुनियोजित करना मनुष्य की सबसे बड़ी बुद्धिमत्ता मानी जा सकती है । समय ही ईश्वर प्रदत्त

सम्पत्ति है । इसका उपयोग जिस प्रयोजन के लिए भी किया जाय वही सिद्ध होता चला जायगा । आजकल लोग धन को अधिक आवश्यक मानते हैं और उसे कमाने की इच्छा करते हैं । फलस्वरूप आजीविका के कार्यों में उसे लगाये रहते हैं । परिस्थिति, साधन और क्षमता के अनुरूप लाभ भी होता है । जो जितना श्रमशील है, वह उतना ही आगे बढ़ेगा, उसे उतनी ही सफलता मिलेगी, जिसने जितनी ढील बरती होगी उसे उतनी ही असफलता का सामना करना पड़ेगा ।

लक्ष्य कुछ भी क्यों न हो उसमें प्रगति तभी होती है जब अभीष्ट मात्रा में श्रम एवं समय लगे । पौधे का बढ़ना खाद और पानी पर निर्भर रहता है । इन दोनों वस्तुओं को प्राप्त करके ही कोई पेड़ बड़ा होकर फलने-फूलने की स्थिति प्राप्त कर सकता है । उसी प्रकार कोई भी लक्ष्य तब प्राप्त होता है जब उसके लिए मनोयोगपूर्वक श्रम और समय को नियेजित किया जाय और व्यवस्थापूर्वक कार्यक्रम बनाकर नियमित रूप से उसमें लगा रहा जाय ।

कला, कौशल, शिक्षा, भाषण, लेखन, स्वास्थ्य आदि कार्यों में कई व्यक्ति असाधारण प्रगति करते देखे जाते हैं । लोग समझते हैं कि उन्हें कोई दैवी वरदान या प्रारब्ध लाभ प्राप्त होता है । लौकिक हो चाहे पारलौकिक हर प्रयोजन के लिए परिपूर्ण श्रम और उचित समय लगाने की आवश्यकता रहती है । जो लोग सफलता के इस रहस्यों को नहीं समझते वे आलस्य को अपनी छाती से चिपकाये रहने पर भी उन्नति के बड़े-बड़े स्वप्न देखते रहते हैं । उन्हें निराशा के अतिरिक्त और क्या हाथ लग सकता है ? समय को व्यर्थ गँवाना और श्रम से जी चुराना यह दो दुर्गुण जीवन को बर्बाद करने के लिए पर्याप्त हैं । कहते हैं कि शनिश्चर और राहु की दशा सबसे खराब होती हैं और जब वे आती हैं तो बर्बाद कर देती हैं । इस कथन में कितनी सचाई है ? पर यह नितान्त सत्य है कि आलस्य को शनिश्चर और प्रमाद को, समय की बर्बादी को राहु माना जाय तो इनकी छाया पड़ने मात्र से मनुष्य की बर्बादी का पूरा-पूरा सरंजाम बन जाता है ।

मनुष्य की भुजाओं में रहने वाला श्रम देव इतना शक्तिशाली और उदार है

कि अपने किसी भक्त को कभी निराश नहीं होने देता । समय के सदुपयोग की तत्परता को अलादीन का चिराग या विक्रमादित्य के अदृश्य शक्तिशाली 'वीरों' से तुलना की जा सकती है । ऐसे असंख्य उदाहरण हमारे आसपास बिखरे पड़े होते हैं, जिन्हें ध्यान से देखने पर स्पष्ट हो जाता है कि कोई गुजरी परिस्थितियों का व्यक्ति भी यदि प्रगति की सुव्यवस्थित योजना बनाकर उसके लिए श्रम और समय की आवश्यक मात्रा लगाने लगे तो उन्नति की संभावनायें तत्काल दृष्टिगोचर होने लगती हैं । इन दोनों देवताओं की पूजा कभी भी निरर्थक नहीं हो पाती । लौकिक और पारलौकिक सभी प्रगतियों के द्वार कुण्ठित करने वाले दो ही असुर मुख्य हैं-एक आलस्य, दूसरा प्रमाद । समय को बर्बाद करने वाला और श्रम से जी चुराने वाला अपना शत्रु आप है । उसे बाहरी शत्रुओं की क्या आवश्यकता है ? अपनी बर्बादी के लिए यह दो दुर्गुण जिसने पाल रक्खे हैं उसे शनि और राहु की दशा की प्रतीक्षा न करनी पड़ेगी । उसके ऊपर साढ़ेसाती नहीं अजर-अमर सत्यानाशी शनि देवता सदा ही चढ़े रहेंगे । राहु का दुर्दिन स्थायी रूप से उसके शिर पर मँडराता रहेगा ।

संक्रामक एवं घृणित बीमारी-हमारे देश में यह संक्रामक महामारी बुरी तरह फैली हुई है । लोग आलस में बैठे रहने, हरामखोरी करते रहने में ही बड़प्पन मानते हैं कि उन्हें कुछ काम नहीं करना पड़ता । नौकर-चाकर ही सब कुछ करके रख देते हैं । कुछ दिन पूर्व देश में राजे-महाराजे जागीरदार बहुत थे, उनमें से कितने ही ऐसे थे जिन्हें कपड़ा पहनाने-उतारने और जूते बाँधने का काम तक नौकर करते थे । अभी भी जिनके पास जमीन-जायदादें हैं वे तथाकथित बड़े आदमी उसी बात में अपना गौरव समझते हैं कि उन्हें कुछ काम नहीं करना पड़ता, सारा दिन बैठे-ठाले बीत जाता है । जिनके बच्चे कमाऊ हो गये हैं उनके बाप यह सोचते हैं कि अब उन्हें काम क्यों करना चाहिए । सन्त-महात्मा तो वही हैं जो काम रत्ती भर भी न करें । अमीर और भाग्यवान् की भी यही परिभाषा है । "त्याग" का अर्थ ही काम-धन्धे, जिम्मेदारी का त्याग माना जाता है । जिसने अपने कन्धे से सारी जिम्मेदारियाँ छोड़ दीं उसे कन्धा डालकर बीच रास्ते में बैठ जाने वाले 'गरियार बैल'

का नाम ही यहाँ त्यागी रख दिया जाता है ।

जहाँ हरामी सम्मान पाते हों, निठल्ले भाग्वान् कहलाते हों और श्रमिकों को छोटा, तिरस्कृत, अभागा या अछूत समझा जाता हो वहाँ जितनी ही विपत्तियाँ आयें, जितनी ही अवनति देखनी पड़े उतनी ही कम है । सफाई करने वाले, कपड़े धोने वाले, जूते बनाने वाले, वस्त्र सीने वाले, सूत कातने वाले, लुहार, ठठेरे, बढ़ई, राजगीर, सन्तराश, रंगरेज आदि शिल्पी एवं श्रमिकों को इसलिए नीच समझा जाये कि वे कठोर श्रम करके राष्ट्र की समृद्धि में योग देते हैं तो यही कहना चाहिए कि ऐसी औंधी समझ के लोगों का उज्ज्वल भविष्य अभी बहुत दूर है ।

पूर्वी उत्तरप्रदेश में कोई ब्राह्मण हल नहीं जोत सकता, जोतेगा तो विरादरी से अलग कर दिया जायगा । हल जोतना तो मजदूर चमार या नीच जाति के लोगों का काम है । ऊँची जाति के लोग उसे क्यों करें ? ऐसी विपरीत बुद्धि जिन लोगों की है उन्हें इस जन्म में तो क्या सौ-सौ जन्मों में दरिद्रता ही मिलेगी ।

हर पढ़ा-लिखा आदमी यही सोचता है, उसे ऐसी नौकरी मिले जिससे कपड़ों की क्रीज खराब न होने पावे । पंखे के नीचे बैठे-बैठे, मेज-कुर्सी पर बैठे-बैठे थोड़ी कलम चलाने भर की नौकरी मिले । चाहे पैसे भले ही कम मिलें । सारे शिक्षित समाज की यही मनोवृत्ति है । फलस्वरूप नौकरियों की खोज में हर शिक्षित युवक भटकता हुआ पाया जायगा जबकि शिक्षा बढ़ रही है और हर शिक्षित क्लर्की का उम्मीदवार है तो इतने नौकर आखिर रखेगा कौन ? सरकार के पास भी आखिर इतनी जगहें कहाँ से आवेंगी ? फलतः बेकारी बुरी तरह बढ़ रही है और शिक्षा समाज के लिए एक नई मुसीबत का कारण बन रही है । गाँवों में कृषि, पशु-पालन, गृह उद्योग आदि की समुचित निर्वाह व्यवस्था होते हुए भी पढ़े-लिखे लड़के शहरों को भाग रहे हैं । घर की खेती बर्बाद हो रही है और शहर के गन्दे घरों में सड़ते हुए मुट्ठी भर पैसों की बाबूशाही नौकरी करते हुए सड़ा-गला जीवन बिता रहे हैं । चाहे स्वास्थ्य खोना पड़े, चाहे मनोबल पर श्रम न कर आराम से दिन कटता रहे । भावनात्मक दृष्टि से जिस

समाज के लोग इतने लुंज-पुंज हो जायें, उनके अच्छे दिन आने में अभी बहुत देर है यही जानना चाहिए ।

महिलाओं में भी यही रोग- पुरुषों की तरह यही दुष्प्रवृत्ति महिलाओं में भी पनप रही है । भाग्यवती स्त्री वह मानी जाती है जिसे कुछ भी काम न करना पड़े । रोटी बनाने के लिए, चौका-बर्तन करने के लिए, झाड़ने के लिए, कपड़े धोने के लिए, सफाई और साज-संभाल के लिए, बच्चे खिलाने के लिए नौकर मिले और वह बैठी-ठाली दिन काटा करे । जिन्हें ऐसा अवसर मिला है उसका भाग्य सराहा जाता है और जो चक्की, चूल्हा, पानी भरना, दही बिलोना, कपड़े धोना आदि गृह कार्य स्वयं करती हैं घर के आजीविका कार्यों में भी हाथ बँटाती हैं अभागिन मानी जाती हैं । इस मान्यता ने अमीर स्त्रियों के स्वास्थ्य को बुरी तरह चौपट किया है और आराम-तलबी के कारण उनके भीतरी अवयवों को जंग लग गई और वे आये दिन बीमार पड़ी रहती हैं डाक्टरों के बिल के साथ ही शारीरिक कष्ट दिन-दिन बढ़ रहे हैं । हरामखोरी के फलस्वरूप जो शारीरिक, मानसिक अभिशाप उनके पल्ले बँधते हैं, उसकी अपेक्षा यह कहीं अच्छा था कि परिश्रम करतीं, घर की आर्थिक दशा सुधारतीं और शरीर से नीरोग रहतीं जैसा कि देहात की परिश्रम स्त्रियाँ करती भी हैं । श्रमशील महिलाओं के प्रसव हँसते खेलते होते रहते हैं जबकि बैठी-ठाली महिलाओं को असाधारण कष्ट सहने पड़ते हैं और कई बार तो वे अपने जीवन तक से हाथ धो बैठती हैं ।

स्टेशनों पर थोड़े से सामान के लिए कुली को पुकारते, थोड़ी दूर जाने के लिए भी सवारी ढूँढ़ने वाले व्यक्तियों को देखकर यह कहना पड़ता है कि इन्होंने श्रम को इतना घृणित माना है कि थोड़ा-सा हाथ, पैर हिलाने में भी अपनी तौहीन अनुभव करते हैं । यह स्थिति कितनी दयनीय एवं विपरीत बुद्धि की सूचक है । होना यह चाहिए कि जो जितना अधिक परिश्रम करे वह उतना ही अधिक सम्मान पावे और जो जितना निठल्ला हो वह उतना ही घृणित समझा जाय । वस्तुस्थिति से सर्वथा विपरीत मान्यताओं का होना किसी समाज में दुर्भाग्य का ही चिह्न हो सकता है ।

श्रम का कल्याणकारी सिद्धांत

जो व्यक्ति श्रम के कल्याणकारी सिद्धांत को समझ जायगा, आर्थिक जगत् की हानिकारक कृत्रिमता तथा झूँठे सामाजिक दम्भ को त्यागने के लिए निश्चय कर लेगा, उसे इस बात की चिन्ता नहीं करनी पड़ेगी कि वह कौनसा काम करे ? यह कहना तो एक प्रकार मूर्खता या कुतर्क होगी कि इस सिद्धांत के अनुसार प्रत्येक मनुष्य को अपने जीवन निर्वाह के लिए आवश्यक सब प्रकार की सामग्री स्वयं पैदा करनी या बनानी चाहिए अर्थात् किसान, जुलाहा, मोची, राज, बढ़ई, लुहार आदि के सब प्रकार के काम वह स्वयं ही करे । इस प्रकार की कार्य प्रणाली तो हमको उसी हालत में पहुँचा देगी जिसमें हम कुछ हजार वर्ष पहले रहते थे और जिसको अर्द्ध-सभ्य अवस्था कहा जाता है ।

श्रम का कल्याणकारी रूप यह है कि हम उसका आधार सामाजिक सहयोग को समझें न कि एक वर्ग की दूसरे के ऊपर विशिष्टता और श्रेष्ठता को । इस प्रकार का विभाजन विशेष सुविधा प्राप्त लोगों में यह भावना पैदा कर देता है कि हम अपने सुख के लिए खाते और सोते तथा अन्य कार्य करते हैं तथा हमारा स्वार्थ अन्य बहुसंख्यक लोगों से भिन्न है । इसके बजाय हमको परिश्रमी लोगों की यह मनोवृत्ति अपनानी चाहिए कि "हमारा शरीर एक यंत्र की तरह है जिसे चलाने के लिए भोजन की आवश्यकता होती है और इसलिए काम न करना और केवल खाते जाना एक लज्जाजनक तथा अपने तथा दूसरों, सबके लिए हानिकारक है ।" जिस प्रकार एक अग्निकांड उपयोगी वस्तुओं को भस्म तो कर देता है पर बनाता कुछ भी नहीं इसी प्रकार जो व्यक्ति केवल खाता है और कोई काम नहीं करता वह समाज के लिए एक अभिशाप, एक असह्य भार ही समझा जाना चाहिए ।

एक विचारक के अनुसार मनुष्य के कार्य को चार भागों में विभाजित किया जा सकता है--(१) माँस-पेशियों का कार्य अर्थात् हाथ, पैर, कन्धों तथा पीठ का कार्य जो गाढ़े पसीने का होता है और जिससे अन्न, पशु, घर, जलाशय आदि की प्राप्ति होती है । (२) उँगलियों और कलाइयों का कार्य अर्थात्

शिल्प-कार्य जिससे कपड़े, जूते, बर्तन आदि दस्तकारी और कारीगरी की चीजें तैयार होती हैं । (३) मस्तिष्क और विचार का कार्य, जिससे विज्ञान और कला-सम्बन्धी प्रगति संभव होती है । (४) सामाजिक कार्य जिससे अन्य लोगों से मिलने-जुलने, परिचय, सेवा, सहयोग का अवसर मिलता है ।

सबसे अच्छा तो यही है कि मनुष्य अपना कार्यक्रम तथा दिनचर्या इस प्रकार की बनावे कि इन चारों प्रकार की क्षमताओं को प्रतिदिन काम में लाने का अवसर प्राप्त होता रहे और हम जीविकोपार्जन के साथ ऐसा उपयोगी कार्य करते रहें, जिससे समाज की सुख-शांति की वृद्धि हो । पर वर्तमान परिस्थितियों में अधिकांश लोगों के लिए ऐसा कर सकना पूर्ण रूप से संभव नहीं जाना पड़ता । तो भी श्रम की आवश्यकता और श्रेष्ठता के प्रति निष्ठा की भावना को स्थिर रखना आवश्यक है । उदाहरणार्थ बड़े शहरों में रहने वाले और कारखानों में काम करने वाले मजदूरों तथा सरकारी और निजी कार्यालयों में काम करने वाले छोटे क्लर्क आदि का जीवन ऐसा भारयुक्त तथा साधन ऐसे सीमित रहते हैं कि वे सदैव अपनी दिनचर्या को इच्छानुसार नहीं बना सकते । पर श्रम की उपयोगिता और उसे कर्तव्य रूप से पालन करने का ध्यान रखा जाय तो वर्तमान सामाजिक दोष बहुत हद तक दूर हो सकते हैं ।

इस समय तो प्रत्येक आदमी कार्य की उपयोगिता के बजाय अधिक से अधिक धन प्राप्त करने का लक्ष्य रखता है और उसी प्रकार के कार्य चुनता है, चाहे उससे समाज की कैसी भी हानि या बर्बादी ही क्यों न होती हो ? यदि इसके बजाय हम इस मनोवृत्ति से कार्य करें कि हमारा कार्य समाज के संचालन, सुव्यवस्था, सेवा, सहयोग, उपयोग का एक अंश है और इससे हमको भी एक सामाजिक सदस्य के नाते जीवन-निर्वाह के साधन प्राप्त होंगे तो सब व्यवस्था अपने आप जम सकती है और हम प्रत्येक परिस्थिति में चारों प्रकार की क्षमताओं का सदुपयोग समाज के हितार्थ कर सकते हैं ।

पर श्रम के उपयुक्त सिद्धांत को समझने और पालन करने की अधिक आवश्यकता तो उन साधन-सम्पन्न व्यक्तियों के लिए है जो अपना लक्ष्य समाज-हित के बजाय व्यक्तिगत स्वार्थ को ही बनाते हैं और सदैव एकमात्र

ऐसे काम में ही लगे रहते हैं जिससे उनका धन-भण्डार बढ़ता रहे । ऐसे लोग प्रायः शारीरिक श्रम से दूर रहते हैं और यदि मनोरंजन, खेल-कूद, व्यायाम के रूप में कुछ करते भी हैं तो उसे उपयोगी श्रम नहीं कहा जा सकता । इसमें एक बड़े दोष की बात यह होती है कि ऐसे ही लोग प्रायः समाज के मुखिया, नेता या प्रसिद्ध व्यक्ति माने जाते हैं और सामान्यजन उन्हीं का अनुकरण करने की चेष्टा करते हैं । यदि वे देखते हैं कि ये 'बड़े' कहलाने वाले सट्टा, जुआ, ब्लैक मार्केट, तस्कर-व्यापार आदि से धन पैदा करके आराम और मौज की जिन्दगी बिता रहे हैं तो उनमें भी छोटे पैमाने पर वैसे ही कार्य करने की प्रवृत्ति पैदा होती है और इस प्रकार पूरा समाज नाश और पतनकारी मार्ग पर अग्रसर होता है । आज यही स्थिति अधिकांश क्षेत्रों में दिखलाई भी दे रही है ।

इतना ही नहीं कुछ लोगों के पास अधिक मात्रा में धन के इकट्ठा हो जाने से व्यक्तिगत और सामाजिक और भी अनेक दोष उत्पन्न होते रहते हैं । हमारे देश में आमतौर से यह कहा जाता है कि घी, दूध आदि पौष्टिक पदार्थ खाने वाले व्यक्ति स्वस्थ और अधिक शक्तिशाली होते हैं । पर हम देखते हैं कि जिन अमीर श्रेणी के व्यक्तियों के पास इन पदार्थों की बहुतायत होती है और इनके सिवाय जो वेश-कीमती फल और मुरब्बे और वैद्यों के पाक आदि खाया करते हैं, वे ही अधिक शक्तिहीन और अस्वस्थ देखने में आते हैं । ऐसे लोग आये दिन किसी न किसी छोटी-बड़ी शारीरिक शिकायतों में ग्रस्त रहते हैं और डाक्टर तथा वैद्यों के यहाँ हमेशा हाजिरी दिया करते हैं । अधिक अमीर लोगों के यहाँ तो डाक्टर एक तरह से नौकर ही रहते हैं, जो नित्य उनके स्वास्थ्य की जाँच करके कोई न कोई इन्जेक्शन, गोली या टानिक आदि लेने की व्यवस्था करते रहते हैं । उनके मुकाबले में गरीब लोग, जो भरपेट रोटी और मामूली साग-दाल पा जाना ही अपना सौभाग्य समझते हैं, कहीं अधिक स्वस्थ और कार्यक्रम बने रहते हैं । वे बीमार भी पड़ते हैं तो पँसारी के यहाँ से दो-चार आने की काष्ठ-औषधि या जंगली जड़ी-बूटियों से ही उनका इलाज हो जाता है और वे पूर्ववत् परिश्रम करके अपनी रोजी-रोटी कमाने लगते हैं ।

इस अन्तर का कारण यही है कि घी, दूध और फलों को व्यवहार करने

वाले "सेठजी" या "हजूर साहब" शारीरिक श्रम से बिल्कुल अलग रहते हैं और मन में यही सोचा करते हैं कि जब सौभाग्यवश इतनी सम्पत्ति, वैभव, उच्चपद प्राप्त हुआ है तो हमको शारीरिक परिश्रम से क्या मतलब ? यदि हम ऐसा करें तो फिर हम में और गरीब लोगों में फर्क ही क्या रह जायगा ? और फिर हमारे पास इतने नौकर-चाकर होने का अर्थ ही क्या रहेगा ? भगवान ने यदि हमको बड़े घर में जन्म दिया है तो इसका आशय यही है कि हम बड़े आदमियों की तरह शान के साथ रहें और अपने सभी काम नौकर से करायें । यदि खेती बागवानी या अन्य प्रकार के उत्पादनों में सक्रिय भाग लेने लगेंगे तो हमारी प्रतिष्ठा घट जायगी और लोगों पर हमारा वैसा रौब नहीं रहेगा जैसा कि आजकल है ।

पर ये सब नासमझी की बातें हैं । मनुष्य का वास्तविक सम्मान उसके उत्तम कार्यों से होता है । धनवानों के मुँह पर कुछ खुशामदी लोग चापलूसी की बातें भले ही करते रहें, पर घर से बाहर प्रायः उनकी बुराई और प्रतिकूल आलोचना ही सुनने में आया करती हैं । धन के आधार पर उनमें प्रायः अहंकार तथा अन्य दुर्गुण उत्पन्न हो जाते हैं, खुशामदी लोग चाहे अपने स्वार्थ साधन के लिए उनके दोषों को भी गुण बतलाया करें पर सर्वसाधारण को क्या पड़ी जो उनको प्रसन्न करने की कोशिश करें । इसलिए सामान्य जनता में ऐसे अमीरों की प्रायः निन्दा ही हुआ करती है और लोग उनको उपेक्षा की निगाह से देखते हैं । उधर शारीरिक अकर्मण्यता तथा चरित्र सम्बन्धी दोषों के कारण ऊपर से चिकने-चुपड़े और फैशनेबिल दिखाई पड़ने पर भी भीतर से वे खोखले हो जाते हैं । यही कारण है कि जहाँ सूखी रोटी खाने वाले बहुसंख्यक गरीब मजदूर और किसान सत्तर-अस्सी वर्ष की आयु तक भी अपनी रोटी आप कमाने लायक बने रहते हैं, ये अमीर कहलाने वाले प्रायः साठ वर्ष के आसपास ही अपनी जीवन-लीला समाप्त कर देते हैं और अंतिम दो चार वर्षों में मरीज और अपाहिज बन कर पलंग पर ही पड़े रहकर डाक्टरों के सहारे अपने दिन पूरे करते हैं ।

सारांश यही है कि इस समय समाज में जो श्रम-विभाजन का नियम चल

रहा है उसके फलस्वरूप एक ऐसा वर्ग उत्पन्न हो गया है जो केवल मानसिक या बौद्धिक श्रम को अपनाकर शारीरिक श्रम से बिल्कुल हट गया है । केवल अर्थ-लाभ के लिए ही नहीं, सामाजिक श्रेष्ठता और उच्चता के ख्याल से भी उसने शारीरिक श्रम द्वारा उपार्जन को 'नीचा' मान रखा है । इसका परिणाम उनके और समाज दोनों के लिए हानिकर हो रहा है । केवल मानसिक और आराम के कामों में लगे रहने से इन लोगों की शारीरिक शक्तियाँ कुंठित होती हैं, आलस्य, प्रमाद और अंत में अनेक प्रकार की शारीरिक निर्बलताओं से ग्रसित होना पड़ता है । इससे आगे चलकर मानसिक और बौद्धिक शक्तियों का विकास भी रुक जाता है, तो भी स्वल्प साधनों से प्राप्त अपने संतोष और शांति से विरत होकर आराम वाला काम ढूँढ़ने लगते हैं जिससे उनकी शक्तियों का व्यर्थ में ह्रास होता है । इसलिए अपने और समाज के कल्याण की दृष्टि से हमको आज ऐसे श्रम की श्रेष्ठता के सिद्धांत को समझकर उस पर आचरण करना चाहिए जिससे हमारा शारीरिक और मानसिक विकास समुचित दिशा में हो सके और समाज को भी हम एक स्वस्थ आदर्श दे सकें ।

श्रम का सम्मान कीजिए

रामायण में एक कथा प्रसंग है । भगवान् राम शबरी से मिलने के लिए गये । जहाँ शबरी रहती थी उस वन में राम ने क्या देखा ? बहुत ही सुन्दर फूल जो कभी कुम्हलाते नहीं थे । उनमें से मधुर भीनी-भीनी सुगन्ध हर समय निकला करती थी । जब राम ने जिज्ञासावश शबरी से इसका रहस्य पूछा तो वह बोली-"भगवन् ! इसके पीछे एक घटना है ।" "वह क्या ?" राम ने उत्सुकतापूर्वक पूछा । "देव ! यहाँ बहुत समय पूर्व मातंग ऋषि का आश्रम था । आश्रम में बहुत से विद्यार्थी रहते थे । दूर-दूर से ऋषि-मुनि वहाँ आकर रहते थे । चतुर्मास समीप था । आश्रम का ईंधन समाप्त होने को था । बरसात के लिए ईंधन लाना था । प्रमादवश विद्यार्थी जा नहीं रहे थे । एक दिन बड़े सबेरे ही वृद्ध मातंग अपने आप कन्धे पर कुल्हाड़ी रख कर लकड़ियाँ काटने चल दिये । गुरु को जाता देख विद्यार्थी भी उनके पीछे हो लिए और अतिथि भी ।

सूखी-सूखी लकड़ियाँ काटीं और उनका भार बाँध-बाँध कर आश्रम की ओर लौटने लगे । हे राम ! वृद्ध आचार्य के शरीर से श्रमबिन्दु झलकने लगे तो विद्यार्थी भी पसीने से तर-बतर हो गये । हे राम ! जहाँ-जहाँ उन तपस्वियों के श्रम बिन्दु गिरे वहीं ये 'धर्मजानि कुसुमानि' रहस्यमय फूल खिल उठे और बढ़ते-बढ़ते आज सारे वन में फैल गये ।"

उक्त कथा अपने आप में कुछ अस्वाभाविक-सी लगती है किन्तु उसकी सचाई को तिरोहित नहीं किया जा सकता ।

इसी कथा के तथ्य की पुष्टि करते हुए पाश्चात्य विचारक सरले ने कहा है-"भली प्रकार किये गये कार्य मधुर सुगंध देते हैं और मिट्टी में भी खिलते हैं ।" धरती पर जो कुछ भी सुन्दर, नयनाभिराम, आह्लादकारी, सुखप्रद, जीवनदायी तत्व हैं वे सब श्रम की ही उपज हैं । कर्म की खेती से उत्पन्न परिणाम हैं । सचमुच श्रमजीवी के शरीर से निकलने वाला पसीना ही संसार का पोषण करता है, वह जीवन जीने की अनुकूल स्थिति पैदा करता है ।

किसान यदि अपने पसीने की बूँद खेत में न डालें तो अनाज कहाँ से पैदा होगा ? लोगों को खाने के लिए क्या मिलेगा ? बुनकर श्रम नहीं करेगा तो संसार नंगा रह जायगा । हरिजन लोग गंदगी साफ नहीं करेंगे तो एक दिन सारा संसार नरक तुल्य बन जायगा । ज्ञान के साधक बुद्धिजीवी ऋषि-मनीषी समाज को जीने का सही-सही मार्ग-प्रदर्शन और शुद्ध दृष्टि प्रदान न करेंगे तो समस्त समाज ही अस्त-व्यस्त हो जायगा । कलाकार, गायक, कवि, चित्रकार जन-जीवन के सौन्दर्य, आनन्द, आह्लाद का सृजन न करेंगे तो सब कुछ नीरस, भारस्वरूप लगने लगेगा । संसार के हजामत बनाने वाले लोग यदि एक साथ हड़ताल कर दें तो लोग लंगूर, भालुओं जैसी शक्ल लिए फिरेंगे । दर्जी कपड़ा सीना बन्द कर दें तो अच्छे लगने वाले लोग बड़े फूहड़ से दिखाई दें ।

प्रत्येक कार्य जिसमें मनुष्य को श्रम की बूँदें बहानी पड़ती हैं समाज के जीवन के लिए आवश्यक है, अनिवार्य है और सभी अपने-अपने स्थान पर बड़े हैं । महत्वपूर्ण है ।

भगवान् कृष्ण ने इसी तथ्य को समझाते हुए लोगों को स्वधर्म की शिक्षा

दी और कहा-अपना-अपना कर्म करते हुए प्रत्येक व्यक्ति मोक्ष का अधिकारी है । चाहे वह कोई भी क्यों न हो । इतना ही नहीं इस कर्म-धर्म की, श्रम की प्रतिष्ठा के लिए उन्होंने अपने जीवन में सब कर्म किये । ग्वाला बनकर गाय चराईं । गोबर के उपयोग का आन्दोलन चलाया । सारथी बन कर रथ हाँका, जमीन साफ की । जूठी पत्तलें उठाईं । अतिथियों के पैर भी धोये और गीता का महान् उपदेश भी दिया । शांति दूत बन कर कौरवों-पाण्डवों के बीच सन्धि कराने का प्रयत्न किया, तो योद्धा बन कर लड़े भी । गृहस्थ धर्म का पालन करते हुए योगी भी बने रहे ।

श्री कृष्ण ने सभी भाँति कर्म की, श्रम की प्रतिष्ठा की । श्रम की प्रतिष्ठा के लिए ही बूढ़े मातंग ऋषि ने भी कुल्हाड़ी उठाकर वन में लकड़ियाँ काटीं । उनके शिष्य जिन्होंने अपने आपको केवल पुस्तकों तक ज्ञान चर्चा का ही अधिकारी समझ लिया होगा । उनको ऋषि ने अपने आचरण से श्रम की सीख दी ।

समाज के जीवन के लिए सभी कर्म आवश्यक हैं और प्रत्येक अपने आप में महत्वपूर्ण हैं और किसी को ऊँचा और किसी को नीचा नहीं समझा जा सकता । ऐसी प्रवृत्ति भगवान् श्रीकृष्ण, आधुनिक-युग पुरुष महात्मा गाँधी, लोकमान्य तिलक आदि ने भी स्वतंत्रता का उपदेश देने से पहले समाज में कर्म के प्रति जागृति पैदा की । कर्म के आधार पर जो भेद-भाव हो गया, ऊँच-नीच पैदा हो गई थी उसे मिटाया । महात्मा गाँधी ने टट्टी-पेशाब साफ करने से लेकर झाड़ू बुहारने, सूत कातने, कपड़ा बुनने से लेकर खेती करने तक, स्वतंत्रता आन्दोलन चलाने से लेकर लोगों को ज्ञान की सीख देने तक के सब कार्य किये थे । कर्म के आधार पर जो भेद-भाव हमारे यहाँ पैदा हो गया था उसे मिटाने के लिए वे आजीवन प्रयत्न करते रहे । अस्पृश्यता निवारण, हरिजनोद्धार के कार्य मानवीय एकता के लिए बापू आजीवन प्रयत्न करते रहे ।

नि:सन्देह प्रत्येक कर्म जिससे मानव समाज की सुव्यवस्था सुरक्षा-धारण-पोषण, सम्वर्धन में सहायता मिले वह पवित्र है, श्रेष्ठ है । उसे करने वाला व्यक्ति कल्याण का अधिकारी है । समाज में भी उसका वैसा ही स्थान है जैसा

दूसरे कर्म करने वालों का । क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, चाण्डाल, कसाई, माली, धोबी, नाई सबके सब अपना-अपना कार्य करते हुए मोक्ष के अधिकारी हैं, कपड़ा बुनने वाले कबीर, गोरा, कुम्हार, सेना नाई, संत रैदास, तुलाधार वैश्य ये सब सन्त हमारे यहाँ मोक्ष के अधिकारी माने गये हैं ।

कर्म की दृष्टि से ऊँच-नीच की भावना रखना हमारे धर्म, नियम और पूर्वजों के सिद्धांतों के विरुद्ध है । श्रीकृष्ण, गाँधी, राम की आत्मा इस तरह के भेद-भाव से कितनी दु:खी होती होंगी जब एक व्यक्ति अपने आप को ज्ञानी, पंडित, विद्वान् कहकर सबसे ऊँचा समझता है तो दूसरे सफाई करने वाले, खेती करने वाले को नीचा । वस्तुओं के उत्पादनकर्त्ता को नीचा समझना और भव्य महलों में बैठकर गद्दों पर आराम करने, उसका उपभोग करने वाले को बड़ा समझा जाना कितनी अधर्मयुक्त बात है और इस अधर्माचरण ने ही हमारे समाज, हमारे देश को खोखला बनाया है । जिस दिन से हमने सामाजिक जीवन में श्रम की कमकद्री करना शुरू कर दिया उसी दिन से हम कमजोर हो गये । टुकड़ों-टुकड़ों में बँट गये । एक दूसरे को नीच बताकर लड़ने लगे । सब कर्मों की, सब धर्मों की प्रतिष्ठा करने वाले श्रम को आदर देने वाले कृष्ण, ऋषि-महर्षियों की, संतों की आत्मा क्या कहती होंगी हमारी इस दुर्दशा पर ।

रूस में सार्वजनिक सम्मान का आधार व्यक्तियों की श्रमशीलता को ही माना जाता है । जो श्रमिक काम करने में उत्साह तथा मनोयोग में अपनी विशेषता सिद्ध करते हैं, उन्हें राष्ट्रीय संस्थानों द्वारा पदक, पुरस्कार आदि से सम्मानित किया जाता है और उनके चित्रों का उत्साहवर्द्धक प्रदर्शन किया जाता है । यह नीति सचाई और ईमानदारी की है । जिन श्रमिकों के ऊपर राष्ट्रीय समृद्धि का आधार है, उन्हें सम्मान की दृष्टि से देखा जाना चाहिए । पूँजी को आज जो आवश्यक श्रेय और सम्मान मिल रहा है वह गलत है । श्रम से ही पूँजी का उपार्जन होता है, उसका सोचना एवं उपयोग करना बात अलग है, पर जिस उत्पादन के द्वारा पूँजी का निर्माण होता है वह मूलत: श्रम पर ही निर्भर है, श्रम न हो तो कहाँ से अन्न उपजे, कहाँ से कपड़ा बने, कहाँ से मशीनों का निर्माण एवं संचालन हो, कैसे परिवहन की व्यवस्था बने और यह

सब न हो तो छपे कागजों या धातुओं के सिक्के के रूप में संचित पूँजी किस काम आये ? इस संसार में जो कुछ सुरम्य, श्रेष्ठ, सुसंबद्ध दिखाई पड़ रहा है वह सब कुछ मनुष्य के श्रम का ही प्रतिफल है । यदि वह न होता तो इस ऊबड़-खाबड़, वन-वीरानों और खाई-खड्डों से भरी हुई भयानक पृथ्वी पर अन्य वनचरों की भाँति मनुष्य भी एक नगण्य प्राणी की तरह अपनी मौत के दिन पूरे कर रहा होता । धरती को एक सुरम्य उद्यान की तरह बना देने, नगरों, सड़कों, हाट-बाजारों, मनोरंजनगृह, शिक्षालयों, उद्योग-धन्धों, विज्ञान-अन्वेषणों, कला-कौशलों से उसे सुसज्जित शोभा संस्थान के रूप में प्रस्तुत करने में मानवीय श्रम का ही श्रेय रहा है । उसके अथक परिश्रम ने ही यहाँ उन सब सुख-साधनों का निर्माण किया है जिनकी सहायता से हम उन विविध-विध सुविधाओं का उपयोग करते हैं जो बेचारे अन्य जीवों को स्वप्न में भी उपलब्ध नहीं होती ।

श्रम, अनवरत श्रम, श्रद्धा और मनोयोग पूर्वक श्रम यही मानव जीवन की सफलता एवं प्रगति का गुरु मंत्र है । जिसने श्रम की महत्ता उपयोगिता एवं आवश्यकता को समझ लिया उसने जीवन के गूढ़ रहस्य को ढूँढ़ लिया यही मानना होगा । जो श्रम की महत्ता से अपरिचित है, उसे उपेक्षा एवं तिरस्कार की दृष्टि से देखता है, काम से जी चुराता है समझना चाहिए कि इसे अभी तक यही पता नहीं चला है कि मनुष्य जीवन में उपलब्ध हो सकने वाली सफलताओं एवं विभूतियों का मूल-मंत्र क्या है ? ऐसे अज्ञानी व्यक्ति भले ही स्कूली शिक्षा की दृष्टि से कितने ही बढ़े-चढ़े क्यों न हों जीवन कला से अपरिचित ही माने जायेंगे ।

श्रम एक प्रत्यक्ष देवता है- श्रम हमारा सहचर देवता है, उसके द्वारा वह लाभ उठाया जा सकता है जो राजा विक्रमादित्य अपने साथ रहने वाले अदृश्य वीरों से उठाते थे । कहते हैं कि अलाद्दीन का चिराग बहुत करामाती था, यह मनचाही चीजें उत्पन्न कर देता था । हमारे साथ भी ऐसा ही एक देव-दानव निरन्तर फिरता रहता है । उसके प्रति श्रद्धा एवं साधन की नीति अपनावें तो जो चाहते हैं वही दे सकता है । आपके पास शिक्षा का अभाव है । अल्प-शिक्षित

होने के कारण न तो कुछ प्रगति कर पाते हैं, न सम्मान पाते हैं ऐसी दशा में दुःखी होने पर कुड़कुड़ाने की तनिक भी आवश्यकता नहीं है । आज से ही कार्यक्रम बनाइये । दो घण्टे रोज पढ़ना आरंभ कर दीजिए । मत सोचिए कि अमुक साधन नहीं, अमुक वस्तु नहीं, अमुक कठिनाई है, अमुक अड़चन है । इनकी तनिक भी चिन्ता मत करिये । दृढ़ निश्चय कीजिए कि हम नित्य पढ़ेंगे, अवश्य पढ़ेंगे, आलस्य और ढील-पोल को पास न फटकने देंगे, निरन्तर पढ़ना जारी रखेंगे । आपका यह निश्चय यदि दृढ़ रहा और कुछ दिन मानसिक दुर्बलता से लड़-झगड़ कर उस क्रम को जारी रख सके, पढ़ने के अभ्यास को स्वभाव में सम्मिलित कर सके तो विश्वास रखिये आप कुछ ही दिनों में आज की अपेक्षा अनेक गुने सुशिक्षित होंगे । यह क्रम यदि निरन्तर चलता रहा तो आप इसी जीवन में संसार के उच्चतम सुशिक्षितों में से एक होंगे । जिन साधनों का अभाव आपको अभी परेशान कर रहा है उन्हें जुटाने की सूझ-बूझ समय-समय पर उत्पन्न होती रहेगी और कोई रास्ता निकलता रहेगा जिससे आवश्यक सुविधायें उपलब्ध होने लगें । आज तक किसी की कोई भी सच्ची आकांक्षा अधूरी पड़ी नहीं रही है, उसे कोई न कोई मार्ग मिला ही है ।

अमेरिका के प्रेसीडेण्ट अब्राहम लिंकन और जार्ज वाशिंगटन दयनीय दरिद्रता से ग्रसित परिस्थितियों में जन्मे थे । उनके परिवार की स्थिति इस योग्य बिल्कुल न थी कि वे पारिवारिक सहुलियतों के बल पर तनिक भी आगे बढ़ सकें । यदि उनने अपनी व्यक्तिगत प्रतिभा का उपयोग न किया होता और परिस्थितियों के ऊपर ही अपने को छोड़ दिया होता तो वे किसी तरह पेट भर सकने वाले नगण्य व्यक्ति ही रह गये होते । उनने भीतर की प्रतिभा को जागृत किया, अनवरत श्रम की साधना आरंभ की और "जो करना सो पूरी तत्परता एवं दृढ़ता के साथ करना" का बीज मंत्र दुहराया । साधनों के अभाव की शिकायत धीरे-धीरे मिटती गई, प्रतिकूलतायें हटती गईं और अनुकूलतायें उत्पन्न होती गईं । मनुष्य का मनोयोग अनुकूलतायें उत्पन्न करने के साधन जुटाने में असफल नहीं रहता । आकांक्षा और सूझ-बूझ वह रास्ता निकालती ही रहती है जिससे कठिनाइयों का हल करना संभव हो सके । जब फरहाद

जैसा सर्वथा साधनहीन व्यक्ति शीरी को प्राप्त करने की तीव्र आकांक्षा होने पर पहाड़ खोद कर नहर निकालने जैसी कठिन शर्त को पूरी कर सकता है तो कोई कारण नहीं है कि हमारी आन्तरिक प्रखरता प्रगति के मार्ग में उपस्थित होने वाली बाधाओं को समय-समय पर न ढूँढ़ती निकालती रहे ।

सन्त विनोबा का आजीवन व्यस्त कार्यक्रम रहा है । वे स्कूली शिक्षा एक छोटी सीमा तक ही प्राप्त कर सके पर उनने अपना व्यक्तिगत अध्ययन निरन्तर जारी रखा, फलतः वे संसार की प्रायः सभी प्रमुख भाषाओं और विचारधाराओं के विद्वान् बने । उनकी तुलना के मनीषी संसार में गिने-चुने ही होंगे । शिक्षा विषयक इतनी प्रगति के पीछे कोई चमत्कार नहीं, वरन् उनका अनवरत क्रमबद्ध और मनोयोगपूर्वक किया हुआ श्रम ही है । यही राजमार्ग हम सबके लिए भी खुला पड़ा है, जो चाहे उस पर खुशी-खुशी चल सकता है । दो घण्टे निरन्तर का अध्ययन किसी व्यक्ति को तीस वर्ष में समस्त प्रमुख भाषाओं का विद्वान् बना सकता है ।

श्रम से ही जीवन निखरता है

जिन वस्तुओं से जितना अधिक काम लिया जाता है वह उतनी ही चमकीली बनती हैं । बेकार पड़ी हुई वस्तुओं को जंग लग जाती है । जो मशीन काम में आती रहती हैं वे जल्दी ही खराब नहीं होतीं । बेकार पड़ी हुई मशीन कुछ ही समय में बेकाम हो जाती है । उनके बाह्य आकार से लेकर आन्तरिक सूक्ष्म पुर्जे तक खराब, अनुपयोगी हो जाते हैं । मानव-शरीर तो अन्य मशीनों से बहुत ही महत्वपूर्ण, चेतन और जड़ की सम्मिलित रचना का सर्वोपरि नमूना है । उद्योग के अभाव में, बेकारी में शरीर और मानसिक स्थितियाँ विकृत हो जाती हैं, मनुष्य को मानसिक और शारीरिक रोगों का शिकार अवश्य होना पड़ता ।

उद्यमशील व्यक्तियों का मुख-मण्डल सदैव चमकता हुआ दिखाई देता है और अकर्मण्य व्यक्ति सदैव क्लांत, उद्विग्न, दुःखी और खोटी कल्पनाओं में फँसे देखे जाते हैं । परिश्रमी ही सबसे अधिक प्रसन्न और संतुष्ट रहते हैं । वे भले ही

भले ही भौतिक सम्पत्ति, समृद्धि में बड़े न हों किन्तु उनका आन्तरिक धन, जिसमें मानसिक संतोष, हल्केपन और प्रसन्नता का वे अनुभव करते हैं वह संसार की सबसे बड़ी सम्पत्ति है ।

परिश्रम, उद्योग जीवन की प्राथमिक आवश्यकता है, जिसकी पूर्ति के बिना अन्य आवश्यकताओं के लिए कोई स्थान नहीं है । भोजन, वस्त्र आदि जीवन की सभी आवश्यकताओं के लिए श्रम किया जाय, श्रम से ही इनकी प्राप्ति की जाय । बिना श्रम के अपनी आवश्यकता पूर्ण करना चोरी है । जिस तरह चोर किसी का धन, सम्पत्ति चुरा कर अपनी आवश्यकतायें पूर्ण करता है वैसे ही श्रम के अभाव में जीवन की साधन सम्पत्ति जुटाना चोरी के साथ ही दूसरों का शोषण है । क्योंकि साधनों का अस्तित्व श्रम से ही है । दूसरों के श्रम से उपार्जित वस्तुओं का उपभोग बिना श्रम का बदला चुकाये करना चोरी, शोषण तो है ही । अपनी दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए किसी न किसी रूप में श्रम करना आवश्यक है ।

रोटी के लिए श्रम सिद्धांत का प्रतिपादन करते हुए महात्मा टालस्टाय और उनके पूर्व के चिन्तकों ने एक नई प्रेरणा मानव-जाति को दी है । भारतीय जीवन व्यवस्था में तो हमारे ऋषियों ने पहले ही इनका व्यवस्थित कार्यक्रम बनाया था और उसके अभ्यास के लिए जीवन के प्रारम्भ के पच्चीस वर्षों में ब्रह्मचारी को गुरु के आश्रम में रहकर कठोर श्रम करना पड़ता था । महाराज जनक जैसे तत्वज्ञानी भी हल चलाकर जीवन निर्वाह की वस्तुयें उपलब्ध करते थे । आध्यात्मिक साधनाओं में लीन ऋषि-मुनि भी वन के कन्दमूल फल अथवा खेत में बिखरे पड़े रहने वाले दानों से जीवन-निर्वाह कर अपना सम्पूर्ण समय लोक कल्याणार्थ आध्यात्मिक साधनाओं में बिताते थे । महर्षि दुर्वासा, कणाद, पिप्पलाद आदि इसी आदर्श के प्रतिष्ठापक थे । किन्तु हम श्रम के इस महत्व को भूल गये और इसी कारण आलस्य, अकर्मण्यता से हमारा पतन हुआ ।

पश्चिमी देशों ने श्रम के बल पर अपनी भौतिक और शारीरिक क्षमताओं में सर्वोपरि स्थान प्राप्त कर लिया है । वे कुछ ही वर्षों में संसार के शक्तिशाली,

समृद्ध राष्ट्र बन गये । यह हमारे लिए अनुकरणीय हैं ।

श्रम स्वेच्छापूर्वक किया जाना चाहिए । दबाव द्वारा अथवा किसी भय के कारण श्रम एक भार बन जाता है और जीवन के आकर्षण को नष्ट कर देता है । श्रम में जो सुखद आनन्द मिलना चाहिए वह नहीं मिलता । दबाव से मनुष्य का शरीर काम में लगा रहता है किन्तु मन साथ नहीं देता । ऐसी अवस्था में काम को टालने अथवा उसको जैस-तैसे पूरा करने की भावना अथवा सुघड़ता से करने की लगन के अभाव में कार्य के उपयुक्त परिणाम की आशा नहीं की जा सकती ।

श्रम से प्रेम करना ही श्रम का सही आधार है । प्रेमपूर्वक खूब श्रम करना और श्रम से उत्पन्न आमदनी, उत्पादन का भाग जरूरी आवश्यकता की पूर्ति में लगाकर शेष को समाज की सेवा में जन कल्याण में लगा देना और फिर श्रम करने के लिए तैयार रहना श्रम की प्रतिष्ठा के लिए आवश्यक है । आवश्यकता से अधिक उत्पादन का संग्रह करते रहने से जब आवश्यकता पड़ने पर सरलता से उसकी पूर्ति हो जाती है तो श्रम की आवश्यकता महसूस नहीं होती और मनुष्य श्रम से जी चुराने लगता है । इसीलिए भारतीय जीवन-दर्शन में परिग्रह का निषेध करके दान, त्याग, परोपकार को आवश्यक धर्म-कर्तव्य बताया गया है जिससे मनुष्य के पास कुछ संग्रह ही न हो और वह श्रम के लिए सदैव तैयार रहे ।